

प्रकाशक—

मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

सस्करण

मई, १९३० • ५०००

अप्रैल, १९३८ • २०००

जून, १९३६ : ३०००

मूल्य

एक आना

मुद्रक

हरनामदास गुप्ता,
भारत प्रिटिंग प्रेस,
नया बाजार, दिल्ली

विषय-सूची

प्रस्तावना	...	१
१—सर्गाई की जग	...	६
२—दौलत की नसें	...	३५
३—पदल उन्माफ	..	४५
४—मन्य क्या है ?	...	५७
५—उपमाहार	...	६३

७२
सर्वोदय

प्रस्तावना

पश्चिम के देशों में स्वास्थ्यरक्षण यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख—उनका अभ्युदय—बढ़ाना मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होने हों तो इसकी ज्यादा परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग योंगे को दुःख पहुँचा कर भी बहूतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं।

किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का

कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है, और केवल इतने ही के लिए यत्न करना नैतिक नियमों का भंग करना ईश्वर के नियम के विरुद्ध चलना है। ऐसे लोगो में स्वर्गीय जान रस्किन मुख्य थे। वह अंग्रेज थे और बड़े विद्वान थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयों पर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं। नीति के विषयों पर भी उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। उसमें से एक छोटी-सी पुस्तक “अन्टु दिस लास्ट” है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहाँ-जहाँ अंग्रेजी बोली जाती है वहाँ इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताये विचारों का जोरो से खण्डन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य जाति का कल्याण है।

आजकल भारत में हम पश्चिम वालों की बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातों में हम इसकी

जल्द ही समझते हैं: पर इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम की बहुत सी रीतियाँ खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब हैं उसमें दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की अवस्था बहुत ही गन्दगीजनक है। हम धन के लिए विदेश जाते हैं। उसकी धुन में नीति को, ईश्वर को, भूल जाते हैं। स्वार्थ में मन जाते हैं। उसका नतीजा यह होता है कि हम विदेश में रहने से लाभ के बदले उलटे बहुत हानि होनी है, अथवा विदेश यात्रा का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है; पर मायावश बुद्धि में देखा जाय तो भी नीति का पालन आवश्यक है। जान रस्किन ने मिड किया है कि सुग्न जर्मने है। उन्होंने पश्चिम वालों की आँखें खोल दी हैं और आज यूरोप, अमेरिका के भी जितने ही लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलते हैं। भारत की जनता भी उनके

विचारो से लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तक का इस ढंग से साराश देने का विचार किया है जिसमें अंग्रेजी न जानने वाले भी उसे समझ लें ।

सुकरात ने, मनुष्य को क्या करना उचित है इसे संक्षेप में बताया है । कह सकते हैं कि उसने जो-कुछ कहा है, रस्किन ने उसीका विस्तार कर दिया है—रस्किन के विचार सुकरात के ही विचारों का विस्तृतरूप हैं । सुकरात के विचारों के अनुसार चलने की इच्छा रखनेवालों को भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, रस्किन ने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है । हम उनकी पुस्तक का सार दे रहे हैं, उलथा नहीं कर रहे हैं । उलथा कर देने से, सम्भव है, बाइबिल आदि ग्रन्थों के कितने ही दृष्टान्त पाठक न समझ पावे । इसीसे हम रस्किन की रचना का सार मात्र दे रहे हैं । हमने पुस्तक के नाम का भी

उलथा नहीं किया है; क्योंकि उसका मतलब भी
 यही था मरने है जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबिल
 पढ़ी है; परन्तु उसके लिये जानें का उद्देश्य
 मरका कल्याण, मरका (केवल अधिकांश का
 नहीं ।) उद्देश्य, उत्कर्ष होने के कारण हमने इस
 का नाम "सर्वोद्देश्य" रक्खा है ।

मो० क० गाँधी

सच्चाई की जड़

मनुष्य कितनी ही भूले करता है, पर मनुष्यो की पारस्परिक भावना—स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव, का विचार किये बिना। उन्हे एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के नियम गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लजाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सच्चाई का आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी

चाहिए; परन्तु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा मद्दा बना रहने वाली वृत्तियाँ हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रहने और मनुष्य को पैसा बढ़ोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी ध्यान पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन देन के रोजगार से आदर्श अधिक से-अधिक भन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारम्परिक स्नेह-महानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाय।

यदि पारम्परिक स्नेह-महानुभूति का चल लेन-देन के नियम जैसा ही होना तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अन्तर का चल है, लेन-देन का क़ाचदा एक सामाजिक नियम है। अर्थान दोनो एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओर

से स्थायी-शक्ति लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति तो हम पहले स्थायी-शक्ति का अन्दाजा लगायेगे, बाद को आकस्मिक का । दोनों का अन्दाजा मिल जाने पर हम उस वस्तु की गति का निश्चय कर सकेंगे । हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियाँ एक प्रकार की हैं, परन्तु मानव-व्यवहार में लेन-देन के स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावना रूपी आत्मिक-शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं । भावना का असर दूसरे ही प्रकार का, दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है । इसलिए वस्तु-विशेष की गति पर पड़ने वाले भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़ बाकी के नियम से लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते । मनुष्य की भावना के प्रभाव की जाँच-पड़ताल करने

में लेन-देन सखी-बिक्री या मांग और तैयारी के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता ।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं । यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थि-पत्र नहीं है और फिर नियम बनाये तो उसके नियम ठीक भले ही हों, पर वह अस्थि पत्र वाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते । उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होने पर भी पारम्परिक भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए नहीं लागू हो सकते । यदि कोई व्यायाम कला विज्ञान कहें कि मनुष्य का मांस अलग कर उसके गेद बनाये जा सकते हैं, उसे रखाकर उसकी टोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहें कि उस मांस में पुनः अस्थि-पत्र घुमा देने से क्या कठिनाई है तो निश्चय ही हम उसे पागल कहेंगे, क्योंकि अस्थि पत्र में मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा

सकते । इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायें तो वे उसके लिए बेकार हैं । फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढंग पर चलते हैं । उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर केवल कल है और इसी धारणा के अनुसार वह नियम बनाते हैं । वे जानते हैं कि उसमें जीव है, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते । इस प्रकार के नियम मनुष्य पर जिसमें जीव—रूह, आत्मा की प्रधानता है—कैसे लागू हो सकता है ?

अर्थ-शास्त्र कोई शास्त्र नहीं है । जब-जब हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वह बेकार है । उस वक्त मालिक कुछ और सोचते हैं और नौकर कुछ और । उम्र समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते । लोग यह दिखाने के लिए खूब मिरपच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ

एक ही ओर होना है; परन्तु हम विषय में वह
 कुछ समझते । मन्त्र तो यह है कि एक-दूसरे का
 सामाजिक स्वार्थ एक न होने पर भी एक-दूसरे का
 विरोधी होना या विरोधी बन रहना जरूरी नहीं
 है । एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं । घर में
 माता और उसके बच्चे हैं । दोनों को भूख लगी
 है । खाने में दोनों के—माता और बच्चे के—स्वार्थ
 परस्पर विरोधी हैं । माता खाने है तो बच्चे
 भूखा मरते हैं और बच्चे खाने हैं तो माँ भूखी
 रह जाती है । फिर भी माता और बच्चे में कोई
 विरोध नहीं है । माता अधिक बलवती है तो
 हम कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं
 खा डालती । ठीक यही बात मनुष्य के परस्पर
 के सम्बन्ध के विषय में भी समझनी चाहिए ।

धोती डेर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य
 और पशु में कोई अन्तर नहीं है । हमें पशुओं
 की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही
 चाहिए । तब भी वह बात नियम रूप में नहीं

कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मत-भेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा काम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है, परन्तु नफे के बटवारे की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहाँ एक का लाभ हो वहाँ दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनख्वाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साही रहे, मालिक का स्वार्थ नहीं साधता। इसी तरह कारखाना भली-भाँति न चल सकता हो तो भी ऊँची तनख्वाह मागना नौकर के स्वार्थ का भी साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत कराने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊँची तनख्वाह मागना स्पष्टतः अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन

की गदती-चढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार न चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है। इसलिए मनुष्य को समय देवकर नीति या अनीति जिसमें भी बने अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमृत प्रसार में आचरण करने पर अन्त में क्या फल होगा इसे कोई भी मदा नहीं बतला सकता, परन्तु अमुक काम न्याय-संगत है या न्याय-विरुद्ध, यह तो हम प्रायः मदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए। हाँ, यह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा—यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारम्परिक स्नेह-महानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का सम्बन्ध अवलम्बित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें

जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनख्वाह देता है, दरवे जैसी कोठरियो मे रखता है । सार यह कि वह उन्हे इतना ही देता है कि वह किम्मी तरह अपना प्राण शरीर मे रख सके । कुछ लोग कह सकते है कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता । नौकर ने निश्चित तनख्वाह मे अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है । काम कितना कडा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिको को देखकर निश्चित करता है । नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतन्त्रता है । इसीको लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते है । और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाम मे अधिक-से-अधिक काम लेने मे मालिक को लाभ होता है और अन्त मे इससे नौकर को भी लाभ ही होता है ।

विचार करने से हम देखेंगे कि यह बात

टीर नहीं है। नौकर अगर मशीन या कल
मना और उसे चलाने के लिए किसी विशेष
प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो
यह दिमाग ठीक बैठ सकता था, परन्तु यहाँ तो
नौकर को नज्जालिन करने वाली शक्ति उसकी
आत्मा है। और आत्मा का चल तो अर्थ-
शास्त्रियों के सारे नियमों पर हठनाल फेर देता
है—उन्हें गलत बना देता है। मनुष्य रूपी
मशीन में धन-रूपी कोयला भोंक कर अधिक-
से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह
अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी
गाठानुभूति जगाई जाय। नौकर और मालिक
के बीच धन का नहीं, प्रीति का बन्धन होना
चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि जब मालिक चतुर
और मुत्तैद होता है तब नौकर अधिकतर
दबाव के कारण ज्यादा काम करना है। इसी
तरह जब मालिक धालमी और कमजोर होता

है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता, पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिये जायँ और तब हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूति-रहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है ।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं, क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है, पर यह दलील ठीक नहीं है । जो नौकर स्नेह के बदले लापवाही दिखाता है, सरस्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा । उदार हृदय मालिक के साथ जो नौकर बदया-नती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा ।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने से परिणाम

अच्छा ही होता है। यहाँ हम महानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उसपर विचार कर रहे हैं। स्नेह उत्तम बन्धु है, इसलिए उसमें महा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदी बात है और यहाँ हम उसपर विचार नहीं कर रहे हैं। यहाँ तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के मायारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देव चुके हैं, स्नेह-महानुभूति रूपी शक्ति रह कर देती है। यही नहीं यह एक भिन्न प्रकार की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्यान्य नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठना। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक काँटे की तौल का हिस्सा रखने और बदला मिलने की आशा में ही स्नेह दिखाये तो सम्भव है कि उमेनिगश होना पड़े। स्नेह स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना माँगे अपने-आप ही मिल जाता है। कहने है कि जो कुछ अपनी जान दे देता

है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है ।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए । जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा । इसके कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्ठता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—सारांश यह है कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है । ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहाँ सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहाँ युद्ध में क्वचित् ही विजय मिली है । इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही

चाम्पविक्रम बल है। यह बात लुटेरों के दिलों में भी पाई जाती है। डाकुओं का दिल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की धनिप्रतादिव्यलाई नहीं देनी इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखानों में मजदूरों की तनख्वाह का आधार लेन-देन के, मांग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है। इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति विद्यमान रहती है और मानुषीयता की जगह उनके सम्बन्ध में विरोध, प्रतिद्वन्द्विता-सी दिखाने देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नों पर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांग का और प्राप्ति का विचार किसे बिना नौकरों की तनख्वाह किम हद तक स्थिर की गई ?

दूसरा यह है कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक नौकर ता या मेना में मेनापति और

सिपाहियों का स्थायी सम्बन्ध होता है, उसी तरह कारखानों में नौकरो की नियत सख्या, बराबर कैसा ही समय आने पर भी कमीवेशी किये बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करे। आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखानेके मजदूरों की तनख्वाह की एक दर निश्चित हो जाय। फिर भी हम देखते हैं कि ब्रिजलैण्ड के प्रधान मन्त्री का पद बोली बोलबा कर बेचा नहीं जाता। उस पद पर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनख्वाह दी जाती है। इस तरह जो आदमी कम-से-कम तनख्वाह ले उसे हम पादरी (विशप) के पद पर नहीं बैठाते डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणतः इस तरह का सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरण में हम बंधी उजरत ही देते हैं। इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजूर की

दजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना नो यही चाहिए । हमना फल यह होगाकि जिन तरफ हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने में अच्छे वकील, डाक्टरों के ही पाम जानें हैं, उसी तरह सब मजूरों की मजदूरी एक ही होने पर हम लोग अच्छे राज और बड़ों में ही काम लेना पसन्द करेंगे । अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसन्द किया जाय । इसलिए स्वाभाविक और मशे बेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए । जहाँ अपनाडी प्रादमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकना है वहाँ अन्त में चुरा ही परिणाम होता है ।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करे । वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, फारस्याने में जितने प्रादमियों को आरम्भ में रखना हो उनको सदा रखना ही चाहिए । जब धर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम

मिलता है तब उन्हें ऊँची तनख्वाह मांगनी ही पड़ती है, किन्तु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाय कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वह बहुत थोड़ी तनख्वाह में काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अन्त में लाभ ही होता है— और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानों में ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वह कोई बड़ा जोखिम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। सिपाही सेनापति के खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहिगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं, बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात

हम वकील, डाक्टर और पादरी के सम्बन्ध में भी मानते हैं, इमतिह उनमें आदर की दृष्टि में रखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्य को अनेक मकट मढ़कर भी अपने रोगी का उपचार करना उचित है। और पादरी—धर्मोपदेशक को चाहिए कि उसपर कुछ भी क्यों न धीरे पर अपने समुदाय वालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता? आखिर व्यापार के मान प्रतीति का नित्य सम्बन्ध मान लेने का क्या कारण है? विचार करने में दिग्विह्वल होता है कि व्यापारी मग के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए उम्मीर है; पर हमने मान लिया है कि उस का उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि में बनाये जाते हैं कि व्यापारी

झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहाँतक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगो ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी वेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं होगया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्यों में—

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है,
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है,
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का, उसमें न्याय का प्रचार करना है,

प्रौर व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है ।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है ।

अर्थान्—

पर पीछे हटाने के बदले निपाही को अपनी जगाह पर गड़े-गड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए ।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार होजाय तो भी चिकित्सक को यहाँ मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करने रहना चाहिए ।

मृत्यु की शिक्षा देने में लोग मार डाले तो भी करने दमनक धर्मोपदेशक को भूठ के बदले मृत्यु ही की शिक्षा देते रहना चाहिए ।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वहील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो ।

इन प्रकार उपर्युक्त पेशे वालों के लिए मरने

का उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने के तैयार नहीं है वह, जीना किसें कहते हैं, यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनख्वाह लेना नहीं, बल्कि उपदेश देना है, उसी तरह व्यापारी का काम नफा कमाना नहीं, किन्तु माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोटी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाता है, पर दोनों में से एक को भी काम तनख्वाह या नफे पर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनख्वाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम अपना कर्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊँचा दरज मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ

तो उस प्रकार उसे ज़ुटाना, पहुँचाना है। उस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मानहून को उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा उलाज करना भी उसका कर्तव्य है। यह करने के लिए बहुत धीरज, बहुत स्नेह-महानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न भिन्न काम करने हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आवेतां वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही सफ़ट आ पड़े, चाहे वह भित्तारी हो जाय, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहाँ काम करने वालों के साथ अत्यन्त स्नेह का व्यवहार करेगा। अक्सर बड़े कार-गानों या कारखानों में नवयुवक नौकरी करते हैं। उनमें से जितनों को घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहाँ तो मालिक को ही उनके मां बाप बनना होता है। मालिक इन विषय में

लापवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना माँ बाप के होजाते हैं। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने-आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि “मे जिस तरह अपने लड़को को रखता हूँ वैसा ही बर्ताव नौकरो के साथ भी करता हूँ या नहीं ?”

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़के के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहाँ अनेक नौकरो में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरो के साथ भी उसे करना होगा। इसीको सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि सङ्कटों में

व्यापारों का कर्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करें। इस प्रकार के विचार, सम्भव है, कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परन्तु ऐसा मान्म होना ही इस जमाने की विशेषता—नवीनता है, क्योंकि विचार करते यह सभी देख सकते हैं कि मन्त्री नीति तो बर्ता तो सकती है जो अभी चतुर्लङ्घ गड़ है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती। अमेरिका जानि आज तक कायम है, तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है, बल्कि यह है कि थोड़े लोगों ने उन नियमों का भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसीसे यह नीति अथवा अपना अस्तित्व कायम रख सकती है। इन नीति-नियमों का भंग करने से किसी हानियाँ होती हैं और किन्तु तरह समाज को पीटें, छटना पड़ना है, इसका विचार हम

आगे चलकर करेगे ।

हम सचाई के मूल के सम्बन्ध में पहले ही कह चुके हैं । कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—“यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परन्तु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते । वह जिस शास्त्री की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है । यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धान्त प्रभावकारी पाये गये हैं । जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वह निश्चय ही धनवान् होते हैं और जो नहीं चलते हैं वह कङ्काल हो जाते हैं । यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है । इसके विरुद्ध दलीले उपस्थित करना व्यर्थ है । हरेक तजरवेकार जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है ।”

पर यह उत्तर दीज नहीं है । व्यापारी रुपये
कमाते हैं, पर यह वह नहीं जान सकते कि उन्होंने
मनमन कमाया या नहीं और उसमें राष्ट्र का
कुछ भला क्या है या नहीं । 'धनवान' शब्द
का अर्थ भी वह अस्मर नहीं समझते । वह
उस बात को नहीं जान पाते कि जहाँ धनवान
तंगे वहाँ गरीब भी तंगे । कितनी ही बार वह
भूल से यह बात लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम
के अनुसार चलने से सभी आदमी बर्ती हो सकते
हैं । मन पुष्टि तो वह सामान्य कुछ के
बदल जैसा है । एक के खाने पीने पर दूसरा
भरता है । आपके पास जो एक रुपया होता है
उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास
नहीं होता । अगर आपके सामने या पास
आने आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो
आपका रुपया बेकार है । आपके रुपये की शक्ति
उस बात पर अवलम्बित है कि आपके पड़ोसी
को रुपये की इतनी नहीं है । जहाँ गरीबी है वही

अमीरी चल सकती है। इमका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान् होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रहना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुये उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बर्दई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोई-घर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उगमे तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरो को उसकी तङ्गी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाले यह सोच कर कि उनके खेत और ढोर बगैरा के कितने

रूपये मिलेंगे, अपने को उतना ही पैसे वाला मानने हों। वे यह नहीं सोचते कि उनके रूपयों का मूल्य उसमें जितने रत्न और पशु मिल सके उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रूपयों का संग्रह करने हैं। वे यह भी हिमात्र लगाने हैं कि उसमें कितने गजदूर मिल सकेंगे। एक आन्धी के पास सोना-चाँदी या अन्न आदि मौजूद है। उसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परन्तु यदि उसके पड़ोसियों में से किसी को सोने-चाँदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अतः उस मालिक को खुद अपने लिए गोटी पकानी पड़ेगी, रात अपने कपड़े सीने पड़ेगे और खुद ही अपना रत्न जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सोने का मूल्य उसके रत्न के पीले कल्लों से अधिक न होगा। उसका अन्न गड़ जायगा; क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी

दूसरो की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करना पड़ेगा । ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चाँदी एकत्र करना पसन्द न करेंगे । गहरा विचार करने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आगम के लिए नौकर व्यापार या कारीगरी—मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है । और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उम्मी हिस्साव से मिल सकेगा । यदि एक बर्ड से काम लेने की इच्छा रखनेवाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा । यदि ऐसे दो-चार आदमी हो तो उन्हे जहाँ अधिक मजदूरी मिलेगी वहाँ जायगा । निचोड़ यह निकला कि धनवान् होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतने को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है । अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगो

तो तंगी में रहने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायें, यह तो हो नहीं सकता, परन्तु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुखी हो जाती है, उसका अपकार होना है। कद्दाली और मालवारी स्वाभाविक रूप में ही तो राष्ट्र सुनी होता है।

: २ :

दीनत की नसें

उस प्रकार किसी विशेष राष्ट्र में रुपये-पैसे का चक्र शरीर में रक्त-सञ्चार के समान है। तंगी के साथ रक्त का सञ्चार होना या तो स्वाभाविक और व्यायाम का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वर का। शरीर पर एक प्रकार की लाली स्वाभाव्य सूचित करती है। दूसरे प्रकार की रक्त पित्त रोग आ चित है। फिर एक स्थान में रक्त का जमा हो जाना जिसे तरह शरीर को

हानि पहुँचाता है उसी तरह एक स्थान में धन का सञ्चित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि दो खलासी जहाज के टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से एक निर्जन किनारे पर आ पड़े हैं। वहाँ उन्हें खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहे तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयार कर खेती कर सकते हैं और भविष्य के लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची सम्पत्ति कह सकते हैं और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनों का हिस्सा बराबर माना जायगा। इस तरह इनपर जो शास्त्र लागू होता है वह यह है कि उन्हें अपने परिश्रम का फल बाँट लेने का अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों के बाद इनमें से एक आदमी को असन्तोष हुआ, इसलिए उन्होंने

रंग रंग लिये और अलग-अलग अपने-अपने
 लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि
 सभी रंगों के पर एक आदमी बीमार पड़ गया।
 सभी रंगों में वह स्वभावतः दूसरों को मदद के
 लिए नुलावेगा। उस समय दूसरा कह सकता
 है कि मैं तुम्हारा इतना काम कर देने को तैयार
 हूँ, पर शर्त यह है कि तुम्हें आवश्यकता पड़े
 तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा।
 तुम्हें यह लिख देना होगा कि तुम्हारे रंग में मैं
 जितने रंगों के काम करूँगा उतने ही घण्टे,
 जितने घण्टे पर, तुम मेरे रंग में काम कर
 ोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमार की
 बीमारी लम्बी चली और हरवार उसे उस
 आदमी को उसी तरह का उपचारनामा लिख
 कर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा
 होगा तब उन दोनों की स्थिति क्या होगी? हम
 देखेंगे कि दोनों ही पहले से गरीब हो गए हैं,
 क्योंकि बीमार आदमी जबनक रंग पर पड़ा

रहा तबतक उसे अपने काम का लाभ नहीं मिला । यदि हम मानले कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी इतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमार के खेत में लगाया उतना समय अपने खेत में लगाने से उसे वञ्चित रहना पड़ा । फल यह हुआ कि जितनी सम्पत्ति दोनों की मिलकर होनी चाहिए थी उसमें कमी हो गई ।

इतना ही नहीं, दोनों का सम्बन्ध भी बदल गया । बीमार आदमी दूसरे आदमी का कर्जदार होगया । अब वह अपनी मेहनत देने के बाद ही, मजदूरी करके ही अपना अनाज ले सकता है । अब मान लीजिए कि उस चगे आदमी ने बीमार आदमी से लिखाये हुए इकरारनामों का उपयोग करने का निश्चय किया । यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूप से विश्राम ले सकता है—आलसी बन सकता है । वह चाहे तो बीमारी से उठे हुए आदमी से दूसरे इकरारनामों

भी लिखवा सकना है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि हमने कोई ब्रह्मचर्य बात हुई।

अब यदि कोई परदेसी यहाँ आवे तो वह देखेगा कि एक आशमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक पेश-आराम करना है, आलस्य में दिन गिनाना है, और दूसरा मजदूरी करना हुआ भी कष्ट में निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरण से पाठक देख सकेंगे कि हमारे से काम लेने के लक्ष्य का फल यह होता है कि वास्तविक सम्पत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आशमियों ने मिलकर एक गन्ध की स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हर एक ने अलग-अलग पत्नी पामल पैदा की जो सब के काम आ सकें। मान लीजिए कि उनमें से एक आशमी गन्ध का समय बचाने के लिए एक का माल दूसरे के पास पहुँचाने का जिम्मा ले लेता है और हमारे बदले में अन्न लेता है। अगर वह

आदमी ठीक तौर से माल लाये व ले जाय तो सबको लाभ होगा, पर मान लीजिए कि यह आदमी माल लाने लेजाने में चोरी करता है। बाद को सख्त जरूरत के समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानों को भिखारी बना देता है और अन्त में अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपर के दृष्टान्त में स्पष्ट अन्याय है, पर आज के व्यापारियों का यही हाल है। हम यह भी देख सकेंगे कि इस चोरी की कार्रवाई के बाद तीनों आदमियों की सम्पत्ति इकट्ठी करने पर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमी के ईमानदार बने रहने पर होती। दोनों किसानों का काम कम हुआ। आवश्यक चीजे न मिलने से अपने परिश्रम का पूरा फल वह न पा सके। साथ ही उस चोर दलाल के हाथ चोरी का जो लगा उसका भी पूरा और अच्छा उप-

योग नहीं हुआ ।

उस तरह हम (ब्राह्मण) गणित का नाम मष्ट दिनाच लगाकर राष्ट्र विशेष की सम्पत्ति की जाँच कर सकते हैं । उस सम्पत्ति की प्राप्ति के मायनों पर उसे अनवान मानने या न मानने का आधार है । किसी राष्ट्र के पास उतने पैसों हैं उसलिख वह उतना धनवान है, यह नहीं कहा जा सकता । किसी आदर्मी के पास धन का होना जिस तरह उसके व्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता या लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकार भोग विनाश, अत्याचार और जाल-फरेब का मूचक भी हो सकता है । केवल नीति ही हमें उस तरह दिमाच लगाना सिखाती है । एक धन ऐसा होता है जो दम गुना हो जाता है । दूसरा ऐसा होता है कि एक आदर्मी के हाथ में पड़े हुए दम गुने धन का नाश कर देता है ।

तात्पर्य यह कि नीति अनैति का विचार

किये बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य का घमण्ड दिखाने वाली बात है। “सस्ते से-सस्ता खरीदकर महगे-से-महगा बेचने” के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। “सस्ते-से-सस्ता लेना” तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगने पर लकड़ियाँ जल जाने से जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकम्प के कारण धराशायी हो जाने वाले मकानों की ईंटे सस्ती हो सकती है। किन्तु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकम्प की दुर्घटनाये जनता के लाभ के लिए हुई थी। इसी तरह “महगे से महगा बेचना” भी ठीक है, पर महगी हुई कैसे ? आज आप को रोटी के अच्छे दाम मिले। पर क्या आपने वह दाम किसी मरणासन्न मनुष्य की अन्तिम कौड़ियाँ लेकर खड़े किये हैं ? या आपने वह रोटी किसी ऐसे महाजन को दी है

जो कल आपका सर्वस्व हथ पर लेगा ? या किसी ऐसे मित्राही को यो जो आपके बैज पर धारा बोलने वाला है ? समझ है कि हमसे मे एक सी प्रश्न का उत्तर आप अभी न दे सकें क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है । पर आप ने अपनी गैरी उचित मूल्य पर, नीतिमूलक बेची है या नहीं, यह आप बतला सकते हैं । ठाक न्याय होने का ही चिन्ता रहना आवश्यक भी है । आपके काममें किसी को दुःख नहीं, इनका ही जानना और उस के अनुसार चलना आपका कर्तव्य है ।

हम देख चुके कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है । यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसों की जरूरत नहीं रहती । पैसों के बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है, हमके उदाहरण मिलते हैं । और हमके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धन चल से नाति चल अधिक

काम करता है। इङ्गलैण्ड में अनेक स्थानों में लोग धन से भुलावे में नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान ले कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिणाम में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिणाम में दौलत बढ़ेगी। इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चाँदी नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह बात ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन और मान से स्वस्थ रक्खा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इङ्गलैण्ड गोलकुण्डे के हीरो से गुलामों को सजा करके अपने वैभव का प्रदर्शन करने के बदले, ग्रीस के एक सुप्रसिद्ध मनुष्य के कथनानुसार अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखा कर कहे कि।

“यही मेरा धन है”

अदल इन्साफ़ ।

ईश्वरी सन की कुन्द शनादियों के पहलें एक यज़्दी व्यापारी होगया है । उमका नाम मोलो-मन था । उमने धन और यश दोनों भरपूर कमाया था । उमकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है । वेनिम के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उमकी मूर्ति स्थापित की । उमकी कहावतें आज कल याद तो रखी जाती हैं, परन्तु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों । वह कहता है—
 “जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घम-रुडी हैं और यह उनकी मौत की निशानी है ।”
 दूसरी जगह उमने कहा है—“हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता, मृत्यु मौत में घबचता है ।”
 इन दोनों कहावतों में मालोमन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम

मृत्यु है। इस जमाने में इतना भूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणतः हम उसे भूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते। जैसे कि भूठे विज्ञापन का देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालने वाले लेवल लगाना, इत्यादि।

अनन्तर वह बुद्धिमान् कहता है—“जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दुख देता है वह अन्त में दर-दर भीख मागेगा।” इसके बाद कहता है—“गरीबों को न सताओ क्योंकि वह गरीब है। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो क्योंकि जो गरीबों को सतायेगा, खुद उसे सतायेगा।” लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई सकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार के यहाँ डाका डालते हैं परन्तु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा

जाना है ।

फिर मालोमन कहता है—“अमीर और गरीब दोनों समान हैं । खुदा उनको उन्नत करनेवाला है । खुदा उन्हें ज्ञान देता है ।” अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलना । एक को दूसरे का काम मना ही पड़ता रहता है । इसलिए कोई किसी को ऊँचा या नीचा नहीं कह सकता । परन्तु जब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं और जब उन्हें हम जान का होना नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देने वाला है, तब विपरीत परिणाम होता है ।

धन नदी के समान है । नदी मना समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है । इसी तरह धन को भी जहाँ आवश्यकता होवही जाना चाहिये । परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है वैसे धन की गति में भी परिवर्तन हो सकता है । कितनी ही नदियाँ डब-डब बहने लगती

है और उनके आस-पास बहुत-सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बाँध-बाँध कर, जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है। इसी तरह धन का मनुष्यमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह है कि वह धन विपत्तुल्य हो जाता है। पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय और उसका नियम पूर्वक व्यवहार किया जाय तो बाँधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थ-शास्त्री धन की गति के नियन्त्रण के नियम को एक दम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है। परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरप में धनिक को विप देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन

जानें थे । आजकल गरीब लोगों के लिए जो न्याय पदार्थ तैयार किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं । जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कढ़वे में 'चीकरी', मक्खन में चरबी इत्यादि । यह भी बिप देकर धनवान होने के नमान ही हैं । क्या उसे इन धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थ शास्त्री निरी लूट में ही धनी होने की बात कहते हैं । उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनके शास्त्र कानून-मंगत और न्याययुक्त उपायों से धनवान होने का है । पर इस जमाने में यह भी होता कि अनेक बातें जायज होने हुए भी बुद्धि से विपरीत होती हैं । इसलिए न्याय पूर्वक धन अर्जन करना ही मजा रास्ता कहा जा सकता है । और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना

चाहिए । केवल लेन-देन के—व्यावसायिक-नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है । यह तो मछलियाँ, भेड़िये और चूहे भी करते हैं बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं, चूहा छोटे जीव जन्तुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को ग्रा टालता है । उनका यही नियम है, उन्हें दूमरा ज्ञान नहीं है । परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय बुद्धि दी है । उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर—उन्हें ठग कर, उन्हें भिखारी बना कर—उसे धनवान न होना चाहिए ।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर की उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत, जब उसे आवश्यकता हो, हम भी उसके लिए कर दें । यदि उसे कम मेहनत—

कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं ।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं । अब जो आदमी कम मजदूरी माँगे उसमें काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी । यदि अधिक आदमियों को मजदूर की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मँह-माँगी डजरत मिल जायगी और वह प्रायः जितनी होनी चाहिए उसमें अधिक ही होगी । इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी करी जायगी ।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपये उधार दे और उन्हें मैं उसे किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूँ तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा । इसी तरह यदि आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को

उतना ही नहीं, बल्कि व्याज के तौर पर कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मंरे लिए कोई एक घण्टा काम करदे तो मुझे उसके लिए एक घण्टा और पांच मिनट या इसमें अधिक काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मंरे पास दो मजदूर आये और उन में से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊँ तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूँगा उसने तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूँ उसे पूरी मजदूरी दूँ तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा। फिर भा जिससे मैं काम में लगाऊँगा उसे भूखो न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिये तो लोगो के भूखो मरने की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम

मजदूरी दी जाती है । मैं उचित मजदूरी दूँ तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा मैं भोग विलास में रूपया खर्च न करूँगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी । जिसे मैं उचित दाम दूँगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा । उस तरह न्याय का माता स्वयं के बढ़ते ज्यों-ज्यों पागे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जायगा । और जिस राष्ट्र में हम प्रचार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगी और उचित रूप से फूल फलेगा ।

हम विचार के अनुसार पर्यवर्तनी भूटे टकरने हैं । उनका ध्यान है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र नमृद्ध होता है । वास्तव में यह विचार भ्रान्त है । प्रतिस्पर्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर बढ़ाना ।

हमसे भनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है । पंगी प्रतिस्पर्धा चला-उपरी में पन्त में राष्ट्र का

नाश होने की सम्भावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्धा के फल-स्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे। क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहाँ दरजे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देने वाला कम तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किन्तु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है और इसलिए प्रायः ऐसे विभागों में गडबड और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्धा

चल रही है और उसके फलस्वरूप भोग्यवादी,
दगा, लगेच, चोरी आदि अनैतिकों बढ़ गई
हैं। दूधरी और जो माल तैयार होता है वह
गुगल और मडा हुआ होता है। व्यापारी
चाहता है कि मैं खाऊँ, मजदूर चाहता है कि
मैं बीच में कमा लूँ। उस प्रकार व्यवहार
बिगाड़ जाता है, लोगों में खट पट मची रहती
है, गरीबी का जोर बढ़ता है, मृतताले बढ़
जाती हैं, मलाजत ठग बन जाते हैं, ब्राह्मण नैति
का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे
अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं और अन्त में
मलाजत, व्यापारी और ब्राह्मण सभी दुख भोगते
और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएँ
प्रचलित होती हैं वह अन्त में दुख पाता है
और उगका बन ही बिग सा हो जाता है।

उगीलिण ज्ञानियो ने कहा गया है कि—

“जो वन ही परमेश्वर है वही मन्त्रो
परमेश्वर हो छोटे की पूजा ।”

अंग्रेज जाति मुह मे तो कहती है कि धन और ईश्वर मे परस्पर-विरोध है, गरीब ही के घर मे ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार मे वह धन को सर्वोच्च पद देते है । अपने धनी आदमियो की गिनती करके अपने को सुखी मानते है । और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते है, जिन्हे सीख कर लोग धनवान हो जाय । सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है । प्रत्येक प्रकार की स्थिति मे न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निवाही जय,—जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बातें वृथा प्रयास है, “विनाश काले विपरीत बुद्धि ” के समान है । लोगो को जैसे भी होसके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अक्ल सिखाने जैसा ही है ।

सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणों में हम देव चुके कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुर्गम होते हैं। गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसों वाले के पास अधिक पैसा जमा होता है, फिर भी दो में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उत्तम मानते हैं और जनता के सुखका आशय केवल धनको बताते हैं। इसीलिए वह मियाते हैं कि कलाकौशल यदि वृद्धि में निरना अधिक धन एकट्ठा हो सके उतना ही

अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इङ्गलैण्ड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गये हैं। बहुत से आदमी शहरों में जमा होते हैं और खेती-चारी छोड़ देते हैं। बाहर की सुन्दर स्वच्छ वायु को छोड़कर कारखानों की गन्दी हवा में रात-दिन मांस लेने में सुख मानते हैं। इसके फलस्वरूप जनता कमजोर होती जा रही है, लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण धनवान है। उनके भोग विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-दिन मजदूरी करते हैं। उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा

ताम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता ।
 यन्त्रों को देखकर वह भी धनी होना चाहते हैं ।
 यन्त्रों न हो पानेपर विघ्न होने हैं, भूकलाने हैं ।
 पीछे विघ्नक ग्राहक, अन्तरे गन्ने से धन न
 मिलने देख दगा करेय से पैसा कमाने का नुस्खा
 प्रयोग करते हैं । उस तरह पैसा और सेहत
 दोनों बर्बाद हो जाते हैं या दगा करेय फैलाने
 से उनका उपयोग होता है ।

वामन ने मन्त्रा श्रम बर्ही है जिससे कोई
 उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो । उपयोगी वह है
 जिससे मानव जाति का भरण पोषण हो ।
 भरण पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट
 भोजन वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति
 के मार्ग पर स्थिर रह आजीवन सम्पन्न करता
 रहे । उस दृष्टि से विचार करने से बड़े-बड़े
 आयोजन बेकार माने जायेंगे । नभय है कि
 कल कारखाने गोलरुख यन्त्रान होने का मार्ग
 बदल करना पापकर्म नानुन हो । पैसा पैसा

करनेवाले बहुतेरे मिलते हैं, पर उसका यथा-विधि उपयोग करने वाले कम मिलते हैं। जिस धन को पैदा करने में जनता तवाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।

लोग यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असम्भव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा करने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते। क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वह स्वयं जब

नरक नैतिक नियमों का पालन न करे तब तक समाज नानिधान कैसे हो सकता है ? हम मनुष्य तो मनमाना आचरण करे और पड़ोसी का अनिती के कारण उसके दोष निकाले तो हमका अन्ध्रा परिणाम कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विचार करने से हम देख सकते हैं कि इन साधन मात्र हैं और उसमें सुख तथा दुःख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी चढ़ोढ़त होती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके मन्तोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। स्वभाव मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उसमें (मान लीजिए कि) गोले चारुद बनने हैं और लोगों का सर्वनाश साधित होता है। गोला चारुद बनाने वाला राष्ट्र और जिस राष्ट्र पर उनका व्यवहार होता है ये दोनों हानि उठाने और दुःख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी

ही सच्चा धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धन सम्पन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरेक आदमी को जितनी मेहनत मजदूरी हो सके उतनी ही करनी चाहिए। पिछले उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि जहाँ एक आदमी आलसी रहता है वहाँ दूसरे को दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इङ्गलैण्ड में जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही पास में धन हो जाने पर कोई उपयोगी काम नहीं करते अतः उनके लिए दूसरे आदमियों को परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होने के कारण करने वाले का इससे लाभ नहीं होता। ऐसा होने से राष्ट्र की पूँजी घट जाती है। इसलिए ऊपर से यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगों को काम मिल रहा है, परन्तु भीतर से जाँच करने पर मालूम होता है कि अनेक आदमियों को बेकार बैठना पड़ रहा है। पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असन्तोष की

जड़ जगती है, और अन्न में मालदार गरीब मालिक गजदर—दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहे में गदा अनजन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब मालिक और गजदर में दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रह कर पशु की अवस्था में पहुँच जाता है।

उपमहार

महान रश्मिक के लोगों का न्यूलाना हम तय चुके। ये लोग यद्यपि कितने ही पाठकों को नीरस मानूम होंगे, तथापि जिन्होंने इन्हे एक बार पढ़ लिया हो उनमें हम द्वारा पढ़ने की सिफारिश करने हैं। 'इल्लियन ओपिनियन'

कै। सब पाठको से यह आशा रखना कि वे इन पर विचार कर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय । पर यदि थोड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके मार को ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे । ऐसा न हो सके तो भी रस्किन के अन्तिम परिच्छेद के अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर दिया उसीमें फल का समावेश हो जाता है, इसलिए हमें तो मदा ही सन्तोष मानना उचित है ।

रस्किन ने जो बातें अपने भाईयो—अंग्रेजो—के लिए लिखी है वह अंग्रेजो के लिए यदि एक हिस्सा लागू होती है, तो भारत वासीयो के लिए हजार हिस्से लागू होती है । हिन्दुस्तान में नए विचार फैल रहे हैं । आजकल

† इस नाम का गुजराती-अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजी ने दक्षिण अफ्रिका में रहते समय डरबन से निकाला था । अब भी यह निकल रहा है ।

के पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवकों में जोश आया है यह तो ठीक है, पर जोश का अच्छा उपयोग होने में अच्छा और बुरा होने पर बुरा परिणाम होता है। एक ओर से यह आवाज उठ रही है कि स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओर से यह आवाज आ रही है कि विलायत जैसे कारखाने गोलकर तंजों के साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज्य क्या है, उसे हम शायद ही समझते हैं। नेटाल स्वराज्य में है, पर हम कहते हैं कि नेटाल में जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हैं तो ऐसा स्वराज्य नरक राज्य है। नेटाल वाले काफ़िरो को कुचलते हैं, भारतीयों के प्राण हरण करने हैं। स्वार्थ में अन्ये होकर स्वार्थ राज्य भोग रहे हैं। यदि काफ़िर और भारतीय नेटाल में चले जायें तो वे आपस ही में कट मरे।

तब क्या हम ट्रान्सवाल जैसा स्वराज्य प्राप्त करेगे ? जनरल स्मट्स उसके नायको मे से एक है । वह अपने लिखित या जवानी दिये हुए वचनों का पालन नहीं करते । कहते कुछ है और करते कुछ । अंग्रेज उनसे ऊब उठे है । रुपया बचाने के बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकों की लगी रोजी छीनकर उनके स्थान में डच लोगों को रक्खा है । हम नहीं मानते कि इससे अन्त में डच भी सुखी होंगे । जो लोग स्वार्थ पर दृष्टि रखते हैं वे पराई जनता को लूटने के बाद अपनी जनता को लूटने के लिए सहज ही तैयार हो जायेंगे ।

संसार के समस्त भागों पर दृष्टि डालने से हम देख सकते हैं कि जो राज्य स्वराज्य के नाम से पुकारा जाता है, वह जनता की उन्नति और सुख के लिए पर्याप्त नहीं है । एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानी से इस बात को देख सकते हैं । लुटेरों के दल में स्वराज्य हो जाने

मे नया फल होगा, यह सभी जान सकते हैं ।
 उनपर किसी ऐसे मनुष्य का अधिकार हो जो
 स्वयं लुटेरा न हो, नभी वह अन्न में सुखी हो
 सकता है । अमेरीका, फ्रान्स, इंग्लैण्ड ये सभी
 बड़े-बड़े राज्य हैं; पर यह मानने के लिए कोई
 आधार नहीं है कि वे सचमुच सुखी हैं ।

स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर
 काय रख सकता । यह वही मनुष्य कर सकता
 है जो स्वयं नीति का पालन करता है, दूसरों
 को धोखा नहीं देता—माता-पिता, स्त्री, बच्चे,
 नौकर-चाकर, पड़ोसी—सबके प्रति अपने
 कर्तव्य का पालन करता है । ऐसा मनुष्य चाहे
 जिस देश में हो, फिर भी स्वराज्य ही भोग रहा
 है । जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक
 हो, उसे स्वराज्य मिला हुआ ही समझना
 चाहिए ।

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासन करना
 साधारणतः बुरा कहा जा सकता है । अंग्रेजों

का हमपर राज करना एक उल्टी बात है, परन्तु यदि अंग्रेज भारत से कूच कर जायें तो यह न मानना चाहिए कि भारतीयों ने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हम पर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हमी है। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जायें तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारत से चले जायेंगे। यही नहीं हम भी सच्चे स्वराज्य को भोग सकते हैं।

बमबाजी से बहुत से लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और ना-समझी की निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारने वाले ही भारत के मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत अनाथ ही रहेगा। अंग्रेजों का नाश करने वाले बम अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों पर बरसेंगे। फ्रांस के

प्रजातन्त्र के अभ्यन्त—राष्ट्रपति—को मारनेवाला फ्रेन्च ही नों था । अमेरिका के राष्ट्रपति क्लीव नैण्डक को मारनेवाला एक अमेरिकन ही था । इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रों का अन्व अनुकरण कदापि न करें ।

जिस तरह पाप कर्म से —अंग्रेजों को मारकर मजा स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारत में कारखाने खोलने से भी स्वराज्य नहीं मिलने का । रस्किन ने हमें बान को पूरी तरह भावित कर दिया है कि सोना-चादी एकत्र होजाने से कुछ राज्य नहीं मिल जाता । यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं, बल्कि मच प्रद्विग तो पचास ही कहे जाने चाहिए । उनमें ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णमकर-गी होती दिग्गार्ड देने लगी है । हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोप की-सी अवस्था भारत की

कदापि न हो। यूरोप के राष्ट्र एक दूसरे पर घात लगाये बैठे हैं। केवल अपनी तैयारी में लगे होने के ही कारण सब शान्त है। किसी समय जोरो की आग लगेगी तब यूरोप में नरक ही दिखाई देगा।* यूरोप का प्रत्येक राज्य काले आदमियों को अपना भक्ष्य मान बैठा है। जहाँ केवल धन का ही लोभ है वहाँ कुछ और हो ही कैसे सकता है? उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है, तो वह उसी तरह उस पर टूट पड़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांस पर टूटते हैं। यह सब उनके कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण है।

अन्त में भारत को स्वराज्य मिले, यह समस्त भारतवासियों की पुकार है और यह उचित ही

* सन् १९१४ में महासमर की आग लगने पर यह भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हो चुकी है।

हैं; परन्तु स्वराज्य हमें नीति मार्ग से प्राप्त करना है। वह नाम का नहीं, वास्तविक स्वराज्य होना चाहिए। ऐसा स्वराज्य नाशकारी उपायों से नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग मजदूरी से होना चाहिए। भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि बन लानी थी, इसलिए कि भारतवर्षी स्वर्णरूप थे। भूमि तो बही है; पर आदमी बदल गया है, इसलिए वह भूमि उजाड़-सी हो गई है। उसे पुनः सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्गुणों द्वारा स्वर्ण-रूप बनाना है। हमें स्वर्ण बनानेवाला पारसमणि दो अक्षरों में अन्तर्निहित है और वह है 'मत्य'। इसलिए यदि प्रत्येक भारतवर्सी 'मत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज्य मिल जायगा।

‘लोक साहित्य माला’ की पुस्तकें

- | | | |
|--------------------------------|------------------|---|
| १-गाँव की कहानी | (स्व० गौड़जी) | ॥ |
| २-महाभारत के पात्र-१ | (नानाभाई) | ॥ |
| ३-संतवाणी | (वियोगी हरि) | ॥ |
| ४-अंग्रेजी राज्य में हमारी दशा | (डा० अहमद) | ॥ |
| ५-लोक-जीवन | (काका कालेलकर) | ॥ |
| ६-राजनीति प्रवेशिका | (हेरल्ड लास्की) | ॥ |
| ७-अधिकार और कर्तव्य | (कृष्णचन्द्र) | ॥ |
| ८-सुगम चिकित्सा | (चतुरसेन शाम्बी) | ॥ |
| ९-महाभारत के पात्र-२ | (नानाभाई) | ॥ |
| १०-पिता के पत्र पुत्री के नाम | (ज० नेहरू) | ॥ |

‘नवजीवन माला’ की पुस्तकें

- | | | |
|-----------------------|--------------|--------------|
| १-गीताबोध | (गाँधीजी) | —)॥ |
| २-मंगल प्रभात | ” | —)॥ |
| ३-अनासक्तियोग | (गाँधीजी) | =) |
| ” | श्लोक सहित | =) सजिल्द ।) |
| ४-सर्वोदय | (गाँधीजी) | —) |
| ५-नवयुवको से दो बातें | (क्रोपाटकिन) | —) |
| ६-हिन्द स्वराज्य | (गाँधीजी) | =) |

- ७-श्रुतदान की भाषा (आनन्द कांगन्यायन)-
 ८-किशानों का मवाल (डा० प्रहमद) =)
 ९-ग्राम सेवा (गोंधीजी) -)
 १०-न्यायी-गादी की लड़ाई (विनोबा) =)
 ११-मधुसक्ती पालन (गां० मो० चित्रे०)=)
 १२-गाँवों का आर्थिक मवाल १)

आगे होनेवाले प्रकाशन

- १-जीवन शोधन—किशोरलाल मशरवाला
 २-न्यायवाद पूँजीवाद—
 ३-फेमिनिस्टवाद
 ४-नया शासन विधान—(फेटरेशन)
 ५-ग्रामचय (गोंधीजी)
 ६-रामारी आज़ादी का लड़ाई (दो भाग)
 ७-स्मरल विज्ञान—१ (चन्द्रगुप्त चाप्लेण)
 ८-स्मरल की शासन पद्धतियाँ (रामचन्द्र वर्मा)
 ९-रामारे गाँव (चौ० मुस्तार मिह)
 १०-गाँवी साहित्य माला—(रमण गोंधीजी के

चुने हुए लेखों का संग्रह होगा—इस माला में २० पुस्तकें निकलेगी । प्रत्येक का दाम ॥) होगा । पृष्ठ संख्या २००-२५०

११-टाल्स्टाय ग्रन्थावलि—(टाल्स्टाय के चुने हुए निबन्धों, लेखों और कहानियों का संग्रह । प्रत्येक का मूल्य ॥) ।

१२-बाल साहित्य माला—(बालोपयोगी पुस्तकें)

१३-लोक साहित्य माला—(इसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर २०० पुस्तकें निकलेगी । प्रत्येक का दाम ॥) ।

१४-नवराष्ट्र माला—इसमें ससार के प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्रनिर्मातृओं और राष्ट्रों का परिचय होगा । पुस्तकें सचित्र होंगी । प्रत्येक का मू० ॥॥) होगा ।

१५-नवजीवनमाला—छोटी-छोटी नवजीवनदायी पुस्तकें ।

१६-सामयिक साहित्य माला—सामयिक समस्याओं पर मान्य नेताओं की लिखी छोटी-छोटी पुस्तकें ।

